गीतासार

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप का परिचय

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

इस प्रकार कृष्ण अर्जुन के सारथी बने और उन्होंने उस सुप्रसिद्ध धनुर्धर का रथ हाँकना स्वीकार किया। इस तरह हम उस बिन्दु तक पहुँच जाते हैं जहाँ से भगवद्गीता का शुभारम्भ होता है—दोनों ओर की सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार खड़ी हैं और धृतराष्ट्र अपने सचिव सञ्जय से पूछ रहा है कि उन सेनाओं ने क्या किया?

इस तरह सारी पृष्ठभूमि तैयार है। आवश्यकता है केवल इस अनुवाद तथा भाष्य के विषय में संक्षिप्त टिप्पणी की।

भगवद्गीता के अंग्रेजी अनुवादकों में यह सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी विचारधारा तथा दर्शन को स्थान देने के लिए कृष्ण नामक व्यक्ति को ताक पर रख देते हैं। वे महाभारत के इतिहास को असंगत पौराणिक कथा मानते हैं तथा कृष्ण को किसी अज्ञात प्रतिभाशाली व्यक्ति के विचारों को पद्य रूप में प्रस्तुत करने का निमित्त बनाते हैं अथवा श्रेष्ठतम परिस्थितियों में कृष्ण एक गौण ऐतिहासिक पुरुष बना दिये जाते हैं। किन्तु साक्षात् कृष्ण भगवद्गीता के लक्ष्य तथा विषयवस्तु दोनों हैं जैसा कि गीता स्वयं अपने विषय में कहती है।

अतः यह अनुवाद तथा इसी के साथ संलग्न भाष्य पाठक को कृष्ण की ओर निर्देशित करता है, उनसे दूर नहीं ले जाता। इस दृष्टि से भगवद्गीता यथारूप अनुपम है। साथ ही इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस तरह यह पूर्णतया ग्राह्य तथा संगत बन जाती है। चूँकि गीता के वक्ता एवं उसी के साथ चरम लक्ष्य भी स्वयं कृष्ण हैं अतएव यही एकमात्र ऐसा अनुवाद है जो इस महान शास्त्र को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

—प्रकाशक

गीतासार

भगवद्गीता को *गीतोपनिषद्* भी कहा जाता है। यह वैदिक ज्ञान का सार है और वैदिक साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपनिषदों में से एक है। निस्सन्देह, *भगवद्गीता* पर अँग्रेजी भाषा में अनेक भाष्य उपलब्ध हैं, अतएव एक अन्य भाष्य की आवश्यकता के बार में प्रश्न किया जा सकता है। इस प्रस्तुत संस्करण का प्रयोजन इस प्रकार बताया जा सकता है : हाल ही में एक अमरीकी महिला ने मुझसे *भगवद्गीता* के एक अँग्रेजी अनुवाद को संस्तुत करने को कहा। निस्सन्देह, अमरीका में *भगवद्गीता* के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं, लेकिन जहाँ तक मैंने देखा है, केवल अमरीका में ही नहीं, अपितु भारत में भी, उनमें से किसी को सच्चे अर्थों में प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि लगभग हर एक संस्करण में भाष्यकार ने *भगवद्गीता* यथारूप के मर्म का स्पर्श किये बिना अपने निजी मतों को व्यक्त किया है।

भगवद्गीता का मर्म *भगवद्गीता* में ही व्यक्त किया गया है। यह इस प्रकार है : यदि हमें किसी विशेष औषधि का सेवन करना हो, तो हमें उस के लेबल पर लिखे निर्देशों का पालन करना होता है। हम अपने मनमाने ढंग से या मित्र की सलाह से औषधि नहीं ले सकते। उसका सेवन लेबल पर लिखे हुए निर्देशों

के अनुसार या चिकित्सक के निर्देशानुसार करना होता है। इसी प्रकार *भगवद्गीता* को उसके वक्ता द्वारा दिये गये निर्देशानुसार ही ग्रहण या स्वीकार करना चाहिए। *भगवद्गीता* के वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण हैं। उनका उल्लेख *भगवद्गीता* के प्रत्येक पृष्ठ पर पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर—भगवान् के रूप में हुआ है। निस्सन्देह, भगवान् शब्द कभी-कभी किसी भी अत्यन्त शक्तिशाली व्यक्ति या किसी शक्तिशाली देवता के लिए प्रयुक्त होता है, और यहाँ पर भगवान् शब्द निश्चित रूप से भगवान् श्रीकृष्ण को एक महान् व्यक्तित्व वाले बताता है, किन्तु साथ ही हमें यह जानना होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं, जैसा कि सभी महान् आचार्यों जैसे शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्क स्वामी, श्री चैतन्य महाप्रभु तथा भारत के वैदिक ज्ञान के अन्य अनेक अधिकारियों ने पुष्टि की है। भगवान् ने स्वयं भी *भगवद्गीता* में अपने आप को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्थापित किया है और ब्रह्म-संहिता में तथा सभी पुराणों में, विशेषतया *श्रीमद्भागवतम्* में जो भागवतपुराण के नाम से विख्यात है, वे इसी रूप में स्वीकार किये जाते हैं *(कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्)*। अतएव *भगवद्गीता* हमें स्वयं भगवान् ने जैसे बताई है, वैसे ही स्वीकार करनी चाहिए।

भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय(४.१-३)में भगवान् कहते हैं :

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम् अव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्परा-प्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

यहाँ पर भगवान् अर्जुन को सूचित करते हैं कि यह योगपद्धति अर्थात् *भगवद्गीता* सर्वप्रथम सूर्यदेव को बताई गयी थी, सूर्यदेव ने इसे मनु को बताया और मनु ने इसे इक्ष्वाकु को बताया। इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा यह योगपद्धति एक वक्ता से दूसरे वक्ता तक पहुँचती हुई आ रही है। लेकिन कालान्तर में यह छिन्न-भिन्न हो गई है। फलस्वरूप, भगवान् को इसे फिर से बताना पड़ रहा है—इस बार अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में।

वे अर्जुन से कहते हैं कि वे यह परम रहस्य उसे इसलिए प्रदान कर रहे हैं, क्योंकि वह उनका भक्त तथा मित्र है। इसका तात्पर्य यह है कि *भगवद्गीता* ऐसा ग्रन्थ है जो विशेष रूप से भगवद्भक्त के लिए है। अध्यात्मवादियों की तीन श्रेणियाँ हैं—ज्ञानी, योगी तथा भक्त अर्थात् निर्विशेषवादी, ध्यानयोगी और भक्त। यहाँ पर भगवान् अर्जुन से स्पष्ट कहते हैं कि वे उसे इस नवीन परम्परा (गुरु-शिष्य परम्परा) को ग्रहण करने वाला प्रथम पात्र बना रहे हैं, क्योंकि प्राचीन परम्परा खण्डित हो गई थी। अतएव यह भगवान् की इच्छा थी कि सूर्यदेव से चली आ रही विचारधारा की दिशा में ही अन्य परम्परा स्थापित की जाये और उनकी यह इच्छा थी कि उनकी शिक्षा का वितरण अर्जुन द्वारा नये सिरे से हो। वे चाहते थे कि अर्जुन *भगवद्गीता* के ज्ञान का प्रामाणिक अधिकारी बने। अतएव हम देखते हैं कि *भगवद्गीता* का उपदेश अर्जुन को विशेष रूप से दिया गया, क्योंकि अर्जुन

भगवान् का भक्त था, स्वयं श्रीकृष्ण का शिष्य तथा उनका घनिष्ठ मित्र था। अतएव जिस व्यक्ति में अर्जुन जैसे गुण पाये जाते हैं, वह *भगवद्गीता* को सबसे अच्छी तरह समझ सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह भगवान् से सीधा सम्बन्धित हो और उनका भक्त हो। ज्योंही कोई भगवान् का भक्त बन जाता है, त्योंही उसका सम्बन्ध सीधा भगवान् से हो जाता है। यह एक अत्यन्त विशद् विषय है, लेकिन संक्षेप में यह बताया जा सकता है कि भक्त तथा पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के मध्य पाँच विभिन्न प्रकारों में से किसी भी एक प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है :

१. मनुष्य तटस्थ भाव में भक्त हो सकता है, (शान्त रस)

२. मनुष्य सक्रिय अवस्था में भक्त हो सकता है, (दास्य रस)

३. मनुष्य सखा के रूप में भक्त हो सकता है, (सख्य रस)

४. मनुष्य माता या पिता के रूप में भक्त हो सकता है, (वात्सल्य रस)

५. मनुष्य दाम्पत्य प्रेमी के रूप में भक्त हो सकता है। (माधुर्य रस)

अर्जुन का कृष्ण से सम्बन्ध सखा-रूप में था। निस्सन्देह, इस मित्रता (सख्य-भाव) तथा भौतिक जगत् में पायी जाने वाली मित्रता में आकाश-पाताल का अन्तर है। यह मित्रता दिव्य है, जो हर किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। निस्सन्देह, प्रत्येक व्यक्ति का भगवान् से कुछ विशेष सम्बन्ध होता है और यह सम्बन्ध भक्तिमय सेवा की पूर्णता से ही जागृत होता है। किन्तु हमारे जीवन की वर्तमान अवस्था में हमने न केवल भगवान् को भुला

दिया है, अपितु हम भगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को भी भूल चुके हैं। लाखों-करोड़ों जीवों में से प्रत्येक जीव का भगवान् के साथ शाश्वत विशिष्ट सम्बन्ध है। यह स्वरूप कहलाता है। भक्तियोग की प्रक्रिया द्वारा इस स्वरूप को जागृत किया जा सकता है। और वह अवस्था स्वरूप-सिद्धि कहलाती है अर्थात् स्वाभाविक या मूलभूत स्थिति की पूर्णता। अतएव अर्जुन भक्त था और वह भगवान् के सम्पर्क में मित्र रूप में था।

हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन ने भगवद्गीता को किस तरह ग्रहण किया। इसका वर्णन दशम अध्याय (१०.१२-१४) में हुआ है :

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यम् आदिदेवम् अजं विभुम्॥
आहुस्त्वाम् ऋषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥
सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

अर्जुन ने कहा : "आप पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं; परम-धाम, पवित्रतम, परम सत्य हैं। आप शाश्वत, दिव्य, आदि पुरुष, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल तथा व्यास जैसे समस्त महामुनि आपके विषय में इस सत्य की पुष्टि करते हैं और अब आप स्वयं मुझसे इसकी घोषणा कर रहे हैं। हे कृष्ण! आपने जो कुछ कहा है उसे मैं पूर्णरूप से सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवता और न असुर ही आपके व्यक्तित्व को समझ सकते हैं।"

पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर से *भगवद्गीता* सुनने के बाद अर्जुन ने कृष्ण को *परम् ब्रह्म* के रूप में स्वीकार कर लिया। ऐसे तो प्रत्येक जीव ब्रह्म है, लेकिन सर्वोपरि आत्मा, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, परम ब्रह्म हैं। *परम् धाम* का अर्थ यह है कि वे प्रत्येक वस्तु के परम आश्रय या धाम हैं। *पवित्रम्* का अर्थ यह है कि वे शुद्ध हैं, भौतिक कल्मष से बेदाग हैं। *पुरुषम्* का अर्थ यह है कि वे परम भोक्ता हैं; *शाश्वतम्* अर्थात् आदि, सनातन; *दिव्यम्* अर्थात् दिव्य; *आदि-देवम्* अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर; *अजम्* अर्थात् अजन्मा तथा *विभुम्* अर्थात् महानतम हैं।

अब कोई यह सोच सकता है कि चूँकि कृष्ण अर्जुन के मित्र थे, अतएव अर्जुन यह सब उन्हें चाटुकारिता के रूप में कह रहा था। लेकिन अर्जुन *भगवद्गीता* के पाठकों के मन से इस प्रकार के सन्देह को दूर करने के लिए अगले श्लोक में इस प्रशंसा की पुष्टि करता है, जब वह यह कहता है कि कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में सिर्फ मैं ही नहीं मानता, अपितु नारद, असित, देवल तथा व्यासदेव जैसे अधिकारी भी स्वीकार करते हैं। ये सब महापुरुष हैं जो समस्त आचार्यों द्वारा स्वीकृत वैदिक ज्ञान का वितरण (प्रचार) करते हैं। अतएव अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि वे जो कुछ भी कहते हैं, उसे वह पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार करता है। *सर्वम् एतद् ऋतं मन्ये*—"आप जो कुछ कहते हैं, उसे मैं सत्य मानता हूँ।" अर्जुन यह भी कहता है कि भगवान् के व्यक्तित्व को समझ पाना बहुत कठिन है, यहाँ तक कि बड़े-बड़े देवता भी उन्हें नहीं समझ पाते। इसका मतलब यह हुआ कि भगवान् मनुष्य से ऊँचे व्यक्तित्व द्वारा भी नहीं जाने जा सकते

हैं। अतएव मानव उनका भक्त बने बिना भगवान् श्रीकृष्ण को कैसे समझ सकता है?

अतएव *भगवद्गीता* को भक्तिभाव से ग्रहण करना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि वह कृष्ण के तुल्य है, न ही यह सोचना चाहिए कि कृष्ण कोई सामान्य पुरुष हैं या कि एक महान् व्यक्तित्व हैं। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। अतएव *भगवद्गीता* के कथनानुसार या *भगवद्गीता* को समझने का प्रयत्न करने वाले अर्जुन के कथनानुसार हमें कम से कम सिद्धान्त रूप में यह स्वीकार करना चाहिए कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर हैं, और उसी विनीत भाव से हम *भगवद्गीता* को समझ सकते हैं। जब तक मनुष्य *भगवद्गीता* का पाठ विनम्र भाव से नहीं करता है, तब तक उसे *भगवद्गीता* को समझ पाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह एक महान रहस्य है।

तो *भगवद्गीता* क्या है? *भगवद्गीता* का प्रयोजन मानव जाति का भौतिक संसार के अज्ञान से उद्धार करना है। प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार से कठिनाई में है, जिस प्रकार अर्जुन भी कुरुक्षेत्र में युद्ध करने की विवशता के कारण कठिनाई में था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण कर ली; फलस्वरूप इस *भगवद्गीता* का प्रवचन हुआ। केवल अर्जुन ही नहीं, वरन् हममें से प्रत्येक व्यक्ति इस भौतिक अस्तित्व के कारण चिन्ताओं से घिरा हुआ है। हमारा अस्तित्व मात्र ही अनस्तित्व के परिवेश में है। वस्तुतः हम अनस्तित्व से भयभीत किए जाने के लिए निर्मित नहीं हैं। हमारा अस्तित्व सनातन है। लेकिन किसी न किसी कारण से हम *असत्* में डाल दिए जाते हैं। *असत्* का अर्थ है :

वह जिसका अस्तित्व नहीं है।

कष्ट भोगने वाले अनेक मनुष्यों में केवल कुछ ही ऐसे हैं, जो वास्तव में अपनी स्थिति जानने के जिज्ञासु हैं, जैसे कि वे क्या हैं, वे इस विषम स्थिति में क्यों डाल दिये गये हैं, आदि-आदि। जब तक मनुष्य अपने कष्टों के विषय में जिज्ञासा करने की स्थिति तक जागृत नहीं होता, जब तक उसे यह अनुभूति नहीं होती कि वह कष्ट भोगना नहीं अपितु सारे कष्टों का हल ढूँढना चाहता है, तब तक उसे पूर्ण मानव नहीं समझना चाहिए। मानवता तभी शुरू होती है जब मन में इस प्रकार की जिज्ञासा उदित होती है। ब्रह्म-सूत्र में इस जिज्ञासा को ब्रह्म-जिज्ञासा कहा गया है। *अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*। मनुष्य के सारे कार्यकलाप असफल माने जाने चाहिए, यदि वह परब्रह्म के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा नही करता। अतएव जो लोग यह प्रश्न करना प्रारम्भ कर देते हैं कि वे क्यों कष्ट भोग रहे हैं, या वे कहाँ से आये हैं और मृत्यु के बाद कहाँ जायेंगे, वे ही *भगवद्गीता* समझने के सुपात्र विद्यार्थी हैं। निष्ठावान् विद्यार्थी में भगवान् के प्रति दृढ़ आदर भाव भी होना चाहिए। अर्जुन ऐसा ही विद्यार्थी था।

जब मनुष्य जीवन के वास्तविक उद्देश्य को भूल जाता है, तो भगवान् कृष्ण विशेष रूप से उसी उद्देश्य की पुनर्स्थापना के लिए अवतरित होते हैं। तब भी असंख्य जागृत हुए लोगों में से कोई एक ऐसा होता है जो वास्तव में अपनी स्थिति को जान पाने की स्थिति में आता है और उसी के लिए यह *भगवद्गीता* कही गई है। वस्तुतः हम सभी अविद्या रूपी बाघिन के द्वारा निगल

लिए गए हैं, लेकिन भगवान् जीवों पर, विशेषतया मनुष्यों पर, बहुत कृपालु हैं। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने मित्र अर्जुन को अपना शिष्य बना कर *भगवद्गीता* का प्रवचन किया।

भगवान् कृष्ण का साथी होने के कारण अर्जुन समस्त अज्ञान (अविद्या) से मुक्त था, लेकिन कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में उसे अज्ञान में डाल दिया गया ताकि वह भगवान् कृष्ण से जीवन की समस्याओं के विषय में प्रश्न करे, जिससे भगवान् उनकी व्याख्या मनुष्यों की भावी पीढ़ियों के लाभ के लिए कर दें और जीवन की योजना का निर्धारण कर दें। तब मनुष्य तदनुसार कार्य कर पायेगा और मानव जीवन के उद्देश्य को पूर्ण कर सकेगा।

भगवद्गीता की विषयवस्तु में पाँच मूल-सत्यों का ज्ञान निहित है। सर्वप्रथम ईश्वर के विज्ञान की और फिर जीवों की स्वरूप स्थिति की विवेचना की गई है। एक ईश्वर हैं, जिसका अर्थ है नियन्ता; और दूसरे जीव हैं, जो नियन्त्रित हैं। यदि जीव यह कहे कि वह नियन्त्रित नहीं अपितु स्वतन्त्र है, तो वह पागल है। जीव सभी प्रकार से, कम से कम उसके बद्ध जीवन में तो, नियन्त्रित है। अतएव *भगवद्गीता* की विषयवस्तु ईश्वर, सर्वोच्च नियन्ता तथा जीव, नियंत्रित जीवात्माओं से सम्बन्धित है। इसमें प्रकृति (भौतिक प्रकृति), काल (समस्त ब्रह्माण्ड या भौतिक प्रकृति के प्राकट्य की कालावधि) तथा *कर्म* (कार्यकलाप) की भी व्याख्या है। यह दृश्य-जगत् विभिन्न कार्यकलापों से ओतप्रोत है। सारे जीव भिन्न-भिन्न कार्यों में लगे हुए हैं। *भगवद्गीता* से हमें अवश्य सीखना चाहिए कि ईश्वर क्या है, जीव क्या है, प्रकृति क्या है, दृश्य-जगत् क्या हैं, वह काल द्वारा किस प्रकार

नियन्त्रित किया जाता है, और जीवों के कार्यकलाप क्या हैं?

भगवद्गीता के इन पाँच मूलभूत विषयों में से यह स्थापित होता है कि परम भगवान्, अथवा कृष्ण, अथवा ब्रह्म, या परम नियन्ता अथवा परमात्मा,—आप जो चाहें कह लें—सबसे श्रेष्ठ हैं। जीव गुण में परम-नियन्ता के ही समान हैं। उदाहरणार्थ, जैसा कि *भगवद्गीता* के बाद के अध्यायों में बताया जायेगा, भगवान् ब्रह्मांड में भौतिक प्रकृति के समस्त कार्यों के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। भौतिक प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है। वह परमेश्वर के निर्देशन में कार्य करती है। जैसा कि भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम*—"यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है।" जब हम दृश्य-जगत् में आश्चर्यजनक घटनाएँ घटती देखते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि इस दृश्य जगत् के पीछे एक नियन्ता है। बिना नियन्त्रण के किसी चीज का प्रकट होना सम्भव नहीं है। नियन्ता को न मानना बचपना है। उदाहरणार्थ, एक बालक यह सोच सकता है कि मोटरकार अद्भुत होती है, क्योंकि यह किसी घोड़े या पशु द्वारा खींचे बिना चल सकती है। किन्तु एक समझदार व्यक्ति मोटरकार की आभियंत्रिक व्यवस्था से परिचित होता है। वह सदैव जानता है कि इस यन्त्र के पीछे एक व्यक्ति, एक चालक, होता है। इसी प्रकार परमेश्वर वह चालक है जिसके निर्देशन में प्रत्येक कार्य हो रहा है। भगवान् ने जीवों को अपने अंश-रूप में स्वीकार किया है, जैसा कि हम अगले अध्यायों में देखेंगे। सोने का एक कण भी सोना है; समुद्र के जल की एक बूँद भी खारी होती है। इसी प्रकार हम जीव भी परम-नियन्ता, ईश्वर या भगवान् श्रीकृष्ण के

अंश होने के कारण परमेश्वर के सभी गुणों से, सूक्ष्म मात्रा में, युक्त हैं, क्योंकि हम सूक्ष्म ईश्वर या अधीनस्थ ईश्वर हैं। हम प्रकृति पर नियन्त्रण करने का प्रयास कर रहे हैं, जैसे कि वर्तमान में हम अन्तरिक्ष या ग्रहों को वश में करने का प्रयास कर रहे हैं, और हममें नियन्त्रण करने की यह प्रवृत्ति इसलिए है क्योंकि यह कृष्ण में भी है। परन्तु यद्यपि हममें भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की प्रवृत्ति होती है, तथापि हमें यह जानना चाहिए कि हम परम-नियन्ता नहीं हैं। यह *भगवद्गीता* में समझाया गया है।

भौतिक प्रकृति क्या है? *गीता* में इसकी भी व्याख्या *अपरा प्रकृति,* निकृष्ट प्रकृति के रूप में हुई है। जीव को *परा प्रकृति* (उत्कृष्ट प्रकृति) कहा गया है। *प्रकृति* चाहे परा हो या अपरा, सदैव नियन्त्रण में रहती है। *प्रकृति* स्त्री-स्वरूपा है और वह भगवान् द्वारा उसी प्रकार नियन्त्रित रहती है; जिस प्रकार पत्नी के कार्यकलाप अपने पति द्वारा। *प्रकृति* सदैव अधीन रहती है, उस पर भगवान् का प्रभुत्व रहता है, क्योंकि भगवान् ही नियंत्रक हैं। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों ही परमेश्वर द्वारा अधिशासित एवं नियन्त्रित होते हैं। *गीता* के अनुसार यद्यपि सारे जीव परमेश्वर के अंश हैं, लेकिन वे *प्रकृति* ही माने जाने चाहिए। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* के सातवें अध्याय में हुआ है। *अपरेयम् इतस् त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूताम्*—"यह भौतिक प्रकृति मेरी अपरा प्रकृति है। लेकिन इससे परे एक दूसरी प्रकृति है—*जीव-भूताम्* अर्थात् जीव।

भौतिक प्रकृति खुद तीन गुणों से निर्मित है—सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इन गुणों के ऊपर सनातन काल है और

प्रकृति के इन गुणों के मेल से तथा सनातन काल के नियंत्रण व संयोग से अनेक कार्यकलाप होते हैं, जो *कर्म* कहलाते हैं। ये कार्यकलाप अनादि काल से चले आ रहे हैं और हम सभी अपने कार्यकलापों (कर्मों) के फलस्वरूप सुख या दुःख भोग रहे हैं। उदाहरणार्थ, मान लें कि मैं एक व्यापारी हूँ और मैंने अपनी बुद्धि द्वारा कठोर श्रम किया है और बैंक में बहुत धन संचित कर लिया है। तब मैं सुख का भोक्ता हूँ, किन्तु मान लें कि यदि व्यापार में हानि से मेरा सब धन जाता रहा है, तो मैं दुःख का भोक्ता हो जाता हूँ। उसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम अपने कर्म के फल का सुख या दुःख भोगते हैं। यह *कर्म* कहलाता है।

ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल तथा *कर्म* इन सबकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है। इन पाँचों में से ईश्वर, जीव, भौतिक प्रकृति तथा काल शाश्वत हैं। प्रकृति की अभिव्यक्ति अस्थायी हो सकती है, परन्तु यह मिथ्या नहीं है। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि भौतिक प्रकृति की अभिव्यक्ति मिथ्या है, लेकिन *भगवद्गीता* या वैष्णवों के दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं है। जगत् की अभिव्यक्ति को मिथ्या नहीं माना जाता। इसे वास्तविक, किन्तु अस्थायी माना जाता है। यह उस बादल के सदृश है, जो आकाश में घूमता रहता है; या यह उस वर्षा ऋतु के आगमन के समान है, जो अन्न का पोषण करती है। ज्योंही वर्षा ऋतु समाप्त हो जाती है और बादल चले जाते हैं, त्योंही वर्षा द्वारा पोषित सारी फसल सूख जाती है। उसी प्रकार यह भौतिक अभिव्यक्ति एक निश्चित अन्तराल में होती है, कुछ काल तक रहती है और फिर लुप्त हो जाती है। *प्रकृति* इस तरह कार्यशील रहता है। लेकिन यह चक्र निरन्तर

चलता रहता है। इसलिए *प्रकृति* शाश्वत है; यह मिथ्या नहीं है। भगवान् इसे "मेरी प्रकृति" कहते हैं। यह भौतिक प्रकृति (अपरा प्रकृति) परमेश्वर की भिन्ना-शक्ति है। उसी प्रकार जीव भी परमेश्वर की शक्ति हैं, किन्तु वे भगवान् से विलग नहीं, अपितु नित्य-सम्बद्ध हैं। इस तरह भगवान्, जीव, भौतिक प्रकृति तथा काल, ये सब परस्पर सम्बन्धित हैं और सभी शाश्वत हैं। लेकिन दूसरी वस्तु, *कर्म,* शाश्वत नहीं है। हाँ, कर्म के प्रभाव अत्यन्त पुरातन हो सकते हैं। हम अनादि काल से अपने शुभ-अशुभ कर्मफलों को भोग रहे हैं, किन्तु साथ ही हम अपने कर्मों के फल को बदल भी सकते हैं और यह परिवर्तन हमारे ज्ञान की पूर्णता पर निर्भर करता है। हम विविध प्रकार के कर्मों में व्यस्त रहते हैं। निस्संदेह, हम यह नहीं जानते कि किस प्रकार के कर्म करने से हम कर्मफल से राहत प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन *भगवद्गीता* में इसका भी वर्णन हुआ है।

ईश्वर अर्थात् परम भगवान् की स्थिति परम चेतना स्वरूप है। जीव भी ईश्वर के अंश होने के कारण चेतन हैं। जीव तथा भौतिक प्रकृति दोनों को *प्रकृति* अर्थात् बताया गया है, किन्तु इन दोनों में से केवल जीव चेतन है, दूसरी प्रकृति चेतन नहीं है। यही अन्तर है। इसलिए *जीव-प्रकृति* उत्कृष्ट कहलाती है, क्योंकि जीव भगवान् जैसी चेतना से युक्त है। लेकिन भगवान् की चेतना परम चेतना है, और किसी को यह दावा नहीं करना चाहिए कि जीव भी परम चेतन है। जीव कभी भी, यहाँ तक कि अपनी सिद्ध अवस्था में भी, परम चेतन नहीं हो सकता और यह सिद्धान्त भ्रामक है कि जीव परम चेतन हो सकता है। वह चेतन

तो हो सकता है, लेकिन वह पूर्ण या परम चेतन नहीं है।

जीव तथा *ईश्वर* में अन्तर *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में बताया जायेगा। ईश्वर *क्षेत्रज्ञ* व चेतन है, जैसा कि जीव भी है, लेकिन जीव केवल अपने खुद के शरीर के प्रति सचेत रहता है, जबकि भगवान् समस्त शरीरों के प्रति सचेत रहते हैं। चूँकि वे प्रत्येक *जीव* के हृदय में वास करते हैं, अतएव वे जीवविशेष की मानसिक गतिशीलता से परिचित रहते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए। यह भी बताया गया है कि परमात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में ईश्वर या नियन्ता के रूप में वास कर रहे हैं और जैसा जीव चाहता है वैसा करने के लिए निर्देशित करते रहते हैं। जीव भूल जाता है कि उसे क्या करना है। पहले तो वह किसी एक विशेष विधि से कर्म करने का संकल्प करता है, लेकिन फिर वह अपने ही कर्म की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में उलझ जाता है। एक प्रकार का शरीर त्यागने के बाद वह दूसरी प्रकार के शरीर में प्रवेश करता है जिस प्रकार हम वस्त्र पहनते तथा उतारते रहते हैं। जब आत्मा इस प्रकार देहान्तरण कर जाता है, उसे अपने विगत (पूर्वकृत्) कर्मों का फल भोगना पड़ता है। ये कार्यकलाप तभी बदल सकते हैं जब जीव सतोगुण में स्थित हो और यह समझे कि उसे किस प्रकार के कर्म करने चाहिए। यदि वह ऐसा करता है, तो उसके विगत (पूर्वकृत्) कर्मों के सारे फल बदल सकते हैं। फलस्वरूप *कर्म* शाश्वत नहीं है। इसलिए हमने यह कहा कि पाँचों (*ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल* तथा *कर्म*) में से चार शाश्वत हैं, जब कि कर्म शाश्वत नहीं है।

परम चेतन *ईश्वर* जीव से इस प्रकार से समान हैं—भगवान्

तथा जीव दोनों की चेतनाएँ दिव्य हैं। ऐसा नहीं है कि यह चेतना पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होती है। ऐसा विचार भ्रान्तिमूलक है। *भगवद्गीता* इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती कि चेतना विशेष परिस्थितियों में पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होती है। यह चेतना भौतिक परिस्थितियों के आवरण के कारण विकृत रूप से प्रतिबिम्बित हो सकती है, जिस प्रकार रंगीन काँच से परावर्तित प्रकाश उसी रंग का प्रतीत होता है, परन्तु भगवान् की चेतना भौतिकता से प्रभावित नहीं होती है। भगवान् कृष्ण कहते हैं—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः*। जब वे इस भौतिक जगत् में अवतरित होते हैं, तो उनकी चेतना पर भौतिक प्रभाव नहीं पड़ता। यदि वे इस तरह प्रभावित होते तो वे दिव्य विषयों के सम्बन्ध में उस तरह बोलने के अधिकारी न होते जैसा कि वे *भगवद्गीता* में बोलते हैं। भौतिक कल्मष-ग्रस्त चेतना से मुक्त हुए बिना कोई दिव्य-जगत् के विषय में कुछ नहीं कह सकता। अतः भगवान् भौतिकता से कलुषित नहीं हैं। परन्तु हमारी चेतना अभी भौतिक कल्मष से दूषित है। *भगवद्गीता* शिक्षा देती है कि हमें भौतिकता से कलुषित इस चेतना को शुद्ध करना है। शुद्ध चेतना होने पर हमारे सारे कर्म ईश्वर की इच्छा से जुड़ जाएँगे और इससे हम सुखी हो जाएँगे। ऐसा नहीं है कि हमें अपने सारे कार्य बन्द करने पड़ेंगे। अपितु, हमें अपने कर्मों को शुद्ध करने और परिष्कृत कर्म *भक्ति* कहलाते हैं। भक्ति में किये गये कर्म सामान्य कर्म जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु वे कलुषित नहीं होते। एक अज्ञानी व्यक्ति भले ही भक्त को सामान्य व्यक्ति की भाँति कर्म करते देखे, किन्तु ऐसा अल्पज्ञानी मूर्ख यह नहीं जानता कि भक्त या भगवान् के

कर्म अशुद्ध चेतना या पदार्थ से कलुषित नहीं होते। वे माया के तीन गुणों से परे होते हैं। जो भी हो, हमें यह जान लेना चाहिए कि अभी हमारी चेतना कलुषित है।

जब हम भौतिकता से कलुषित होते हैं, तो हम बद्ध कहलाते हैं। मिथ्या चेतना का प्राकट्य इसलिए होता है कि हम अपने-आपको प्रकृति का प्रतिफल (उत्पाद) मान बैठते हैं। यह मिथ्या अहंकार कहलाता है। जो व्यक्ति देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, वह अपनी स्थिति (स्वरूप) को नहीं समझ सकता। *भगवद्गीता* का प्रवचन मनुष्य को देहात्मबुद्धि के जीवन से मुक्त करने के लिए ही हुआ था और भगवान् से यह सूचना प्राप्त करने के लिए ही अर्जुन ने अपने आपको इस अवस्था में उपस्थित किया था। व्यक्ति को देहात्मबुद्धि के जीवन से मुक्त होना चाहिए; अध्यात्मवादी के लिए प्रारम्भिक कार्य यही है। जो मुक्त होना चाहता है, जो बंधनों से छूटना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह जान लेना होगा कि वह यह भौतिक शरीर नहीं है। मुक्ति का अर्थ है भौतिक चेतना से स्वतन्त्रता। *श्रीमद्भागवतम्* में भी मुक्ति की परिभाषा दी गई है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः*— *मुक्ति* का अर्थ है इस भौतिक जगत् की कलुषित चेतना से छूटना और शुद्ध चेतना में स्थित होना। *भगवद्गीता* के सारे उपदेशों का मन्तव्य इस शुद्ध चेतना को जागृत करना है और इसलिए हम *गीता* के अन्त में कृष्ण को अर्जुन से यह प्रश्न करते पाते हैं कि वह अब विशुद्ध चेतना को प्राप्त हुआ या नहीं? शुद्ध चेतना का अर्थ है, भगवान् के आदेशानुसार कर्म करना। शुद्ध चेतना का यही सार है। भगवान् का अंश होने के कारण हममें चेतना पहले

से ही रहती है, लेकिन हममें प्रकृति के निकृष्ट गुणों द्वारा प्रभावित होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। किन्तु भगवान् परमेश्वर होने के कारण कभी भी प्रभावित नहीं होते। परमेश्वर तथा क्षुद्र जीवों में यही अन्तर है।

यह चेतना क्या है? यह चेतना है, "मैं हूँ" की भावना। तो फिर मैं क्या हूँ? कलुषित चेतना में "मैं हूँ" का अर्थ यह है कि, "मैं सर्वेसर्वा हूँ, मैं भोक्ता हूँ।" यह संसार घूमता है, क्योंकि प्रत्येक जीव सोचता है कि वही इस भौतिक जगत् का स्वामी तथा स्रष्टा है। भौतिक चेतना के दो मनोमय विभाग हैं। एक के अनुसार मैं ही स्रष्टा हूँ, और दूसरे के अनुसार मैं ही भोक्ता हूँ। लेकिन वास्तव में परमेश्वर स्रष्टा तथा भोक्ता दोनों हैं, और परमेश्वर का अंश होने के कारण जीव न तो स्रष्टा है न ही भोक्ता; वह मात्र सहयोगी है। वह सृजित तथा भुक्त है। उदाहरणार्थ, यंत्र का कोई एक पुर्जा सम्पूर्ण यंत्र के साथ सहयोग करता है; शरीर का कोई एक अंग पूरे शरीर के साथ सहयोग करता है। हाथ, पाँव, आँखें आदि शरीर के अंग हैं, लेकिन ये वास्तविक भोक्ता नहीं हैं। भोक्ता तो उदर (पेट) है। पाँव चलते हैं, हाथ भोजन देते हैं, दाँत चबाते हैं और शरीर के सारे अंग उदर को तुष्ट करने में लगे रहते हैं, क्योंकि उदर ही प्रधान कारक है, जो शरीर रूपी संगठन का पोषण करता है। अतएव सारी वस्तुएँ उदर को दी जाती हैं। जड़ को सींच कर वृक्ष का पोषण किया जाता है और उदर का भरण करके शरीर का पोषण किया जाता है, क्योंकि यदि शरीर को स्वस्थ रखना है तो शरीर के सारे अंगों को उदरपूर्ति में सहयोग देना होगा। इसी प्रकार परमेश्वर ही भोक्ता

तथा स्रष्टा हैं और हम उनके अधीनस्थ जीवात्माएँ उन्हें प्रसन्न रखने के निमित्त सहयोग करने के लिए हैं। इस सहयोग से हमें लाभ पहुँचता है, ठीक वैसे ही जैसे उदर द्वारा गृहीत भोजन से शरीर के सारे अंगों को लाभ पहुँचता है। यदि हाथ की अँगुलियाँ यह सोचें कि वे उदर को भोजन न देकर उसे स्वयं ग्रहण कर लें, तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। सृजन तथा भोग के केन्द्रबिन्दु परमेश्वर हैं, और जीव उनके सहयोगी हैं। सहयोग के द्वारा वे भोग करते हैं। यह सम्बन्ध स्वामी तथा दास के सम्बन्ध जैसा भी है। यदि स्वामी पूर्णतया तुष्ट रहता है, तो दास भी तुष्ट रहता है। इसी प्रकार, परमेश्वर को तुष्ट रखना चाहिए, यद्यपि जीवों में भी स्रष्टा बनने तथा भौतिक जगत् का भोग करने की वृत्ति होती है, क्योंकि इस दृश्य-जगत् के स्रष्टा परमेश्वर में ये वृत्तियाँ हैं।

अतएव *भगवद्गीता* में हम पाएँगे कि परम पूर्ण में परम नियन्ता, नियन्त्रित जीव, दृश्य-जगत, शाश्वत काल तथा कर्म सन्निहित हैं, और इन सबकी व्याख्या इस पाठ में की गई है। ये सब मिलकर परम पूर्ण का निर्माण करते हैं और यही परम पूर्ण परम सत्य कहलाता है। यही परम पूर्ण तथा परम सत्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण हैं। सारी अभिव्यक्तियाँ उनकी विभिन्न शक्तियों के फलस्वरूप हैं वे परम पूर्ण हैं।

भगवद्गीता में यह भी बताया गया है कि निर्विशेष ब्रह्म भी परम पूर्ण पुरुष के अधीन है *(ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्)*। ब्रह्मसूत्र में ब्रह्म की विशद व्याख्या, सूर्य की किरणों के रूप में की गई है। निर्विशेष ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रभामय किरणसमूह है। निर्विशेष ब्रह्म पूर्ण ब्रह्म की अपूर्ण अनुभूति है और परमात्मा

की धारणा भी उसी तरह है। पन्द्रहवें अध्याय में हम यह देखेंगे कि भगवान् पुरुषोत्तम इन दोनों—निर्विशेष ब्रह्म तथा परमात्मा की आंशिक अनुभूति से ऊपर हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर को *सच्चिदानन्द विग्रह* कहा जाता है। *ब्रह्मसंहिता* का शुभारम्भ इस प्रकार से होता है—*ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः। अनादिर् आदिर् गोविन्दः सर्व-कारण-कारणम्*। गोविन्द या कृष्ण सभी कारणों के कारण हैं। वे ही मूल कारण हैं और सत्, चित् तथा आनन्द के रूप हैं। निर्विशेष ब्रह्म उनके *सत्* (शाश्वत) स्वरूप की अनुभूति है; परमात्मा *सत्-चित्* (शाश्वत ज्ञान) की अनुभूति है। परन्तु भगवान् के व्यक्तित्व, कृष्ण, की अनुभूति, पूर्ण विग्रह में समस्त दिव्य स्वरूपों अर्थात् *सत्-चित्-आनन्द,* की अनुभूति है।

अल्पज्ञानी लोग परम सत्य को निर्विशेष मानते हैं, लेकिन वे दिव्य व्यक्ति हैं और इसकी पुष्टि समस्त वैदिक ग्रंथों में हुई है। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्* (कठोपनिषद् २.२.१३)। जिस प्रकार हम सभी व्यष्टि जीव हैं और हम सबका अपना-अपना व्यक्तिगत अस्तित्व है, उसी प्रकार परम सत्य भी अन्ततः एक व्यक्ति हैं और भगवान् के व्यक्तित्व की अनुभूति उनके पूर्ण स्वरूप में समस्त दिव्य लक्षणों की ही अनुभूति है। परम पूर्ण रूपविहीन (निराकार) नहीं हैं। यदि वे निराकार हैं, या वे किसी अन्य वस्तु से कम हैं, तो वे सर्वथा पूर्ण नहीं हो सकते। जो सर्वथा पूर्ण है, उसे हमारे लिए अनुभवगम्य तथा अनुभवातीत हर वस्तु से युक्त होना चाहिए, अन्यथा वह पूर्ण नहीं हो सकता।

परम पूर्ण अर्थात् भगवान् में अपार शक्तियाँ हैं (*परास्य*

(१) वह त्रुटियाँ अवश्य करता है, (२) वह अनिवार्य रूप से मोहग्रस्त होता है, (३) उसमें अन्यों को धोखा देने की प्रवृत्ति होती है, तथा (४) वह अपूर्ण इन्द्रियों के कारण सीमित होता है। इन चार दोषों के कारण मनुष्य सर्वव्यापी ज्ञान विषयक पूर्ण सूचना नहीं दे सकता।

वैदिक ज्ञान ऐसे दोषपूर्ण व्यक्तियों द्वारा प्रदान नहीं किया जाता। इसे पहले-पहल प्रथम सर्जित जीव ब्रह्मा के हृदय में प्रदान किया गया था; फिर ब्रह्मा ने इस ज्ञान को अपने पुत्रों तथा शिष्यों को उसी रूप में प्रदान किया, जिस रूप में वह उन्हें भगवान् से प्राप्त हुआ था। भगवान् पूर्ण हैं और उनका भौतिक प्रकृति के नियमों के वशीभूत होना सम्भव नहीं है। अतएव मनुष्य में यह समझने की बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि भगवान् ही ब्रह्माण्ड की सारी वस्तुओं के एकमात्र स्वामी हैं और वे ही आदि स्रष्टा तथा ब्रह्मा के भी सृजनकर्ता हैं। ग्यारहवें अध्याय में भगवान् को *प्रपितामह* के रूप में सम्बोधित किया गया है, क्योंकि ब्रह्मा को *पितामह* कहकर सम्बोधित किया गया है, और वे तो इन पितामह के भी स्रष्टा हैं। अतएव किसी को अपने आपको किसी भी वस्तु का स्वामी होने का दावा नहीं करना चाहिए, उसे केवल उन्हीं वस्तुओं को स्वीकार करना चाहिए जो उसके पोषण के लिए भगवान् ने अलग रखी है।

भगवान् द्वारा हमारे हिस्से में रखी गई वस्तुओं को किस तरह काम में लाया जाये, इसके अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। यह भी *भगवद्गीता* में समझाया गया है। प्रारम्भ में अर्जुन ने निश्चय किया था कि उसे कुरुक्षेत्र के युद्ध में नहीं लड़ना चाहिए। यह

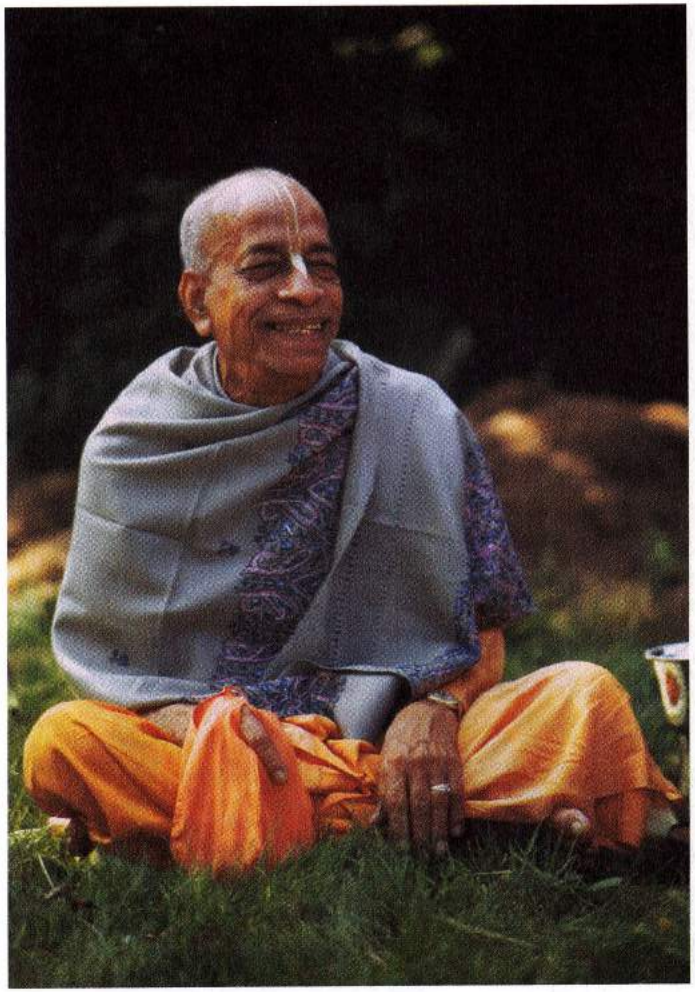

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ एवं
सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक

जिस प्रकार शरीरधारी आत्मा इस (वर्तमान) शरीर में बाल्यावस्था से तरुणावस्था में और फिर वृद्धावस्था में निरन्तर अग्रसर होता रहता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर आत्मा दूसरे शरीर में चला जाता है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहित नहीं होता।

उसका अपना निर्णय था। अर्जुन ने भगवान् से कहा कि अपने ही सम्बन्धियों को मार कर राज्य का भोग करना उसके लिए सम्भव नहीं था। यह निर्णय शरीर पर आधारित था, क्योंकि वह अपने आपको शरीर मान रहा था और अपने शारीरिक सम्बन्ध या विस्तार को भाइयों, भतीजों, सालों, पितामहों आदि के रूप में ले रहा था। अतएव वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को तुष्ट करना चाह रहा था। भगवान् ने *भगवद्गीता* का प्रवचन इस दृष्टिकोण को बदलने के लिए ही किया, और अन्त में अर्जुन भगवान् के आदेशानुसार युद्ध करने का निश्चय करते हुए कहता है, *करिष्ये वचनं तव*—"मैं आपके वचन के अनुसार ही करूँगा।"

इस संसार में मनुष्य बिल्लियों तथा कुत्तों के समान लड़ने के लिए नहीं है। मनुष्यों को मनुष्य-जीवन की महत्ता समझकर सामान्य पशुओं की भाँति आचरण करना बन्द कर देना चाहिए। मनुष्य को अपने जीवन के उद्देश्य को समझना चाहिए, और इसका निर्देश सभी वैदिक ग्रंथों में दिया गया है, जिसका सार *भगवद्गीता* में मिलता है। वैदिक साहित्य मनुष्यों के लिए हैं, पशुओं के लिए नहीं। एक पशु दूसरे जीवित पशु का वध करे तो उसे कोई पाप नहीं लगता, लेकिन यदि मनुष्य अपनी अनियन्त्रित स्वादेन्द्रिय की तुष्टि के लिए पशु का वध करता है, तो वह प्रकृति के नियम को तोड़ने के लिए उत्तरदायी है। *भगवद्गीता* में यह स्पष्ट रूप से समझाया गया है कि प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार तीन प्रकार के कर्म होते हैं—सात्त्विक कर्म, राजसिक कर्म तथा तामसिक कर्म। इसी प्रकार आहार के

भी तीन भेद हैं—सात्त्विक आहार, राजसिक आहार तथा तामसिक आहार। इन सबका विशद वर्णन हुआ है और यदि हम *भगवद्गीता* के उपदेशों का ठीक से उपयोग करें, तो हमारा सम्पूर्ण जीवन शुद्ध हो जाएगा और अन्ततः हम अपने गन्तव्य को प्राप्त कर सकेंगे, जो इस भौतिक आकाश से परे है।

वह गन्तव्य सनातन आकाश या नित्य चिन्मय आकाश कहलाता है। इस भौतिक जगत् में हम पाते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। वह उत्पन्न होता है, कुछ काल तक रहता है, कुछ उप-पदार्थ उत्पादन करता है, क्षीण होता है और अन्त में लुप्त हो जाता है। भौतिक संसार का यही नियम है, चाहे हम इस शरीर का दृष्टान्त लें, या किसी फल का या किसी अन्य वस्तु का। किन्तु इस क्षणिक संसार से परे एक अन्य संसार है, जिसके विषय में हमारे पास जानकारी है। उस संसार में एक अन्य प्रकृति है, जो *सनातन* है। ग्यारहवें अध्याय में जीव को भी सनातन बताया गया है और भगवान् को भी सनातन बताया गया है। हमारा भगवान् के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और चूँकि हम सभी गुणात्मक रूप से एक हैं—*सनातन धाम, सनातन भगवान्* तथा *सनातन जीव*—अतएव *गीता* का सारा अभिप्राय हमारे *सनातन धर्म* को जागृत करना है, जो कि जीव की शाश्वत वृत्ति है। हम अस्थायी रूप से विभिन्न कर्मों में लगे रहते हैं, किन्तु यदि हम इन क्षणिक कर्मों को त्याग कर परमेश्वर द्वारा निर्धारित कर्मों को ग्रहण कर लें, तो हमारे ये सारे कर्म शुद्ध हो सकेंगे। यही हमारा शुद्ध जीवन कहलाता है।

परमेश्वर तथा उनका दिव्य धाम, ये दोनों ही *सनातन* हैं और

जीव भी सनातन हैं। सनातन धाम में परमेश्वर तथा जीव की संयुक्त संगति ही मानव जीवन की सिद्धि है। भगवान् जीवों पर अत्यन्त दयालु रहते हैं, क्योंकि वे उनके पुत्र हैं। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में घोषित किया है, *सर्वयोनिषु... अहं बीजप्रदः पिता*—मैं सबका पिता हूँ। निस्सन्देह, अपने अपने विभिन्न कर्मों के अनुसार जीव नाना प्रकार के हैं, लेकिन यहाँ पर कृष्ण कहते हैं कि वे उन सबके पिता हैं। अतएव भगवान् उन समस्त पतित बद्धजीवों का उद्धार करने तथा उन्हें सनातन धाम वापस बुलाने के लिए अवतरित होते हैं, जिससे सनातन जीव भगवान् की नित्य संगति में रहकर अपनी सनातन स्थिति को पुनः प्राप्त कर सकें। भगवान् स्वयं नाना अवतारों के रूप में अवतरित होते हैं या फिर अपने विश्वस्त सेवकों को अपने पुत्रों, पार्षदों या *आचार्यों* के रूप में इन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए भेजते हैं।

अतएव सनातन धर्म किसी साम्प्रदायिक धर्म पद्धति का सूचक नहीं है। यह तो शाश्वत परमेश्वर के साथ शाश्वत जीवों के शाश्वत कर्म का सूचक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सनातन धर्म जीव के शाश्वत कर्म का निर्देश करता है। श्रीपाद रामानुजाचार्य ने सनातन शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है, "वह जिसका न आदि है और न अन्त," अतएव जब हम सनातन धर्म के विषय में बात करते हैं, तो हमें श्रीपाद रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह मान लेना चाहिए कि इसका न आदि है न अन्त।

अंग्रेजी का 'रिलीजन' शब्द सनातन धर्म से थोड़ा भिन्न है।

रिलीजन से श्रद्धा का भाव सूचित होता है, और श्रद्धा बदल सकती है। किसी को एक विशेष विधि में विश्वास हो सकता है और वह इस विश्वास को बदल कर दूसरा अपना सकता है, लेकिन सनातन धर्म उस कर्म का सूचक है, जो बदला नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, न तो जल से उसकी तरलता विलग की जा सकती है, न अग्नि से ऊष्मा विलग की जा सकती है। ठीक उसी प्रकार शाश्वत जीव से उसके सनातन कर्म को विलग नहीं किया जा सकता। सनातन धर्म जीव का शाश्वत अंग है। अतएव जब हम सनातन धर्म के विषय में बात करते हैं, तो हमें श्रीपाद रामानुजाचार्य के प्रमाण के आधार पर यह मानना चाहिए कि उसका न तो आदि है न अन्त। जिसका आदि व अन्त न हो, वह साम्प्रदायिक नहीं हो सकता क्योंकि उसे सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता। जिनका सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय से होगा वे सनातन धर्म को भी साम्प्रदायिक मानने की भूल करेंगे, किन्तु यदि हम इस विषय पर गहनता से विचार करें और आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में सोचें तो हम सहज ही देख सकते हैं कि सनातन धर्म विश्व के समस्त लोगों का ही नहीं अपितु ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों का धर्म है।

भले ही असनातन धार्मिक विश्वास का मानव इतिहास के पृष्ठों में कोई आदि हो, लेकिन सनातन धर्म के इतिहास का कोई आदि नहीं है, क्योंकि यह जीवों के साथ शाश्वत रूप से रहता है। जहाँ तक जीवों का सम्बन्ध है, प्रामाणिक शास्त्रों का कथन है कि जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। गीता में कहा गया है कि जीव न तो कभी जन्मता है, न कभी मरता है। वह शाश्वत

तथा अविनाशी है, और इस क्षणभंगुर भौतिक शरीर के नष्ट होने के बाद भी जीता रहता है। सनातन धर्म के स्वरूप के प्रसंग में हमें धर्म की धारणा को संस्कृत के मूल शब्द के अर्थ से समझना होगा। धर्म का अर्थ है वह जो पदार्थ विशेष में सदैव रहता है। हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अग्नि के साथ ऊष्मा तथा प्रकाश सदैव रहते हैं; ऊष्मा व प्रकाश के बिना अग्नि शब्द का कोई अर्थ नहीं होता। इसी प्रकार, हमें जीव के उस अनिवार्य अंग को ढूँढना चाहिए जो उसका स्थायी साक्षी है। यह स्थायी साक्षी उसका शाश्वत गुण है और यह शाश्वत गुण ही उसका सनातन धर्म है।

जब सनातन गोस्वामी ने श्री चैतन्य महाप्रभु से प्रत्येक जीव के *स्वरूप* के विषय में जिज्ञासा की, तो भगवान् ने उत्तर दिया कि जीव का *स्वरूप* या स्वाभाविक स्थिति पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की सेवा करना है। यदि हम चैतन्य महाप्रभु के इस कथन का विश्लेषण करें, तो हम आसानी से देश सकते हैं कि प्रत्येक जीव दूसरे जीव की सेवा करने में निरन्तर लगा हुआ है। एक जीव दूसरे जीव की सेवा कई रूपों में करता है। ऐसा करके जीव जीवन का आनन्द भोगता है। निम्न पशु मनुष्यों की सेवा करते हैं, जैसे सेवक अपने स्वामी की सेवा करते हैं। एक व्यक्ति (अ) अपने स्वामी (ब) की सेवा करता है, (ब) अपने स्वामी (क) की, (क) अपने स्वामी (ड) की इत्यादि। इस स्थिति में हम देख सकते हैं कि एक मित्र दूसरे मित्र की सेवा करता है, माता पुत्र की सेवा करती है, पत्नी पति की सेवा करती है, पति पत्नी की सेवा करता है, आदि। यदि हम इसी भावना से खोज

अंगीकार करना अपने सनातन धर्म को अंगीकार करना नहीं है। सेवा करना ही सनातन धर्म है।

वस्तुतः भगवान् के साथ हमारा सम्बन्ध सेवा का सम्बन्ध है। परमेश्वर परम भोक्ता हैं और हम जीव उनके सेवक हैं। हम सब उनके आनन्द के लिए उत्पन्न किये गये हैं और यदि हम भगवान् के साथ उस सनातन आनन्द में भाग लेते हैं, तो हम सुखी बनते हैं। हम किसी अन्य प्रकार से सुखी नहीं हो सकते। स्वतन्त्र रूप से सुखी बन पाना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार शरीर का कोई भी भाग उदर से सहयोग किये बिना सुखी नहीं रह सकता। परमेश्वर की दिव्य प्रेममय सेवा किये बिना जीव सुखी नहीं हो सकता।

भगवद्गीता में विभिन्न देवों की पूजा या सेवा करने का अनुमोदन नहीं किया गया है। उसमें (७.२० में) कहा गया है :

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

"जिनकी बुद्धि भौतिक इच्छाओं द्वारा चुरा ली गई है वे देवताओं की शरण में जाते हैं, और वे अपने-अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विशेष विधिविधानों का पालन करते हैं।" यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जो वासना द्वारा निर्देशित होते हैं, वे परम भगवान् कृष्ण की पूजा न करके देवताओं की पूजा करते हैं। जब हम 'कृष्ण' का नाम लेते हैं, तो हम किसी साम्प्रदायिक नाम का उल्लेख नहीं करते। *कृष्ण* का अर्थ है सर्वोच्च आनन्द, और इसकी पुष्टि हुई है कि परमेश्वर समस्त आनन्द के आगार हैं। हम सभी आनन्द की खोज में लगे हैं। *आनन्दमयोऽभ्यासात्*

करते चलें, तो पाएँगे कि मानव समाज में ऐसा एक भी अपवाद नहीं है जिसमें कोई जीव सेवा की गतिविधि न लगा हो। एक राजनेता जनता के समक्ष अपना घोषणा-पत्र प्रस्तुत करता है ताकि उनको उसकी सेवा करने की क्षमता के विषय में विश्वास दिला सके। फलतः मतदाता उसे यह सोचते हुए अपना बहुमूल्य मत देते हैं कि वह समाज की महत्त्वपूर्ण सेवा करेगा। दुकानदार अपने ग्राहक की सेवा करता है और कारीगर पूँजीपति की सेवा करता है। पूँजीपति अपने परिवार की सेवा करता है और परिवार शाश्वत जीव की शाश्वत सेवा क्षमता से राज्य की सेवा करता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि कोई भी जीव अन्य जीवों की सेवा करने से मुक्त नहीं है। अतएव हम यह निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाल सकते हैं कि सेवा जीव की चिर संगिनी है और सेवा करना जीव का सनातन धर्म है।

तथापि मनुष्य काल तथा परिस्थिति विशेष के सन्दर्भ में किसी विशिष्ट प्रकार की श्रद्धा को अंगीकार करने का दावा करता है, और इस प्रकार वह अपने को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध या किसी अन्य सम्प्रदाय को मानने वाला बताता है। ये सभी उपाधियाँ सनातन धर्म नहीं हैं। एक हिन्दू अपनी श्रद्धा बदल कर मुसलमान बन सकता है, या एक मुसलमान अपनी श्रद्धा बदल कर हिन्दू बन सकता है या कोई ईसाई अपनी श्रद्धा बदल सकता है, इत्यादि। किन्तु सभी परिस्थितियों में धार्मिक श्रद्धा में परिवर्तन होने से अन्यों की सेवा करने का शाश्वत-धर्म (वृत्ति) प्रभावित नहीं होता। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई समस्त परिस्थितियों में किसी न किसी के सेवक हैं। अतएव किसी विशेष श्रद्धा को

(*वेदान्त-सूत्र* १.१.१२)। भगवान् की ही भाँति जीव चेतना से पूर्ण हैं, और सुख के पीछे भागते रहते हैं। भगवान् तो हमेशा सुखी हैं, और यदि जीव उनकी संगति करते हैं, उनके साथ सहयोग करते हैं और उनकी संगति में सहभागी बनते हैं, तो वे भी सुखी हो जाते हैं।

भगवान् इस मर्त्य लोक में सुख से परिपूर्ण अपनी वृन्दावन लीलाएँ प्रदर्शित करने के लिए अवतरित होते हैं। जब भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में थे, तब उनकी अपने गोपमित्रों के साथ अपनी गोपिका-सखियों के साथ, वृन्दावन के अन्य निवासियों के साथ तथा गायों के साथ की गई लीलाएँ सुख से परिपूर्ण थीं। वृन्दावन की सारी जनता कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानती थी। परन्तु भगवान् कृष्ण ने अपने पिता नन्द महाराज को भी इन्द्रदेव की पूजा करने से निरुत्साहित किया, क्योंकि वे इस तथ्य को प्रतिष्ठित करना चाहते थे कि लोगों को किसी भी देवता की पूजा करने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें एकमात्र परम ईश्वर की पूजा करनी चाहिए क्योंकि उनका चरम लक्ष्य उनके (भगवान् के) धाम को वापस जाना है।

भगवद्गीता (१५.६) में भगवान् श्रीकृष्ण के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है :

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"मेरा वह परम धाम न तो सूर्य या चन्द्रमा द्वारा, न ही अग्नि या बिजली द्वारा प्रकाशित होता है। जो लोग वहाँ पहुँच जाते हैं, वे इस भौतिक जगत् में फिर कभी नहीं लौटते।"

यह श्लोक उस शाश्वत आकाश (परम धाम) का वर्णन करता है। निस्सन्देह, हमें आकाश की भौतिक कल्पना है, और हम उसे सूर्य, चन्द्र, तारे आदि के सम्बन्ध में सोचते हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् बताते हैं कि शाश्वत आकाश में सूर्य, चन्द्र, बिजली या किसी प्रकार की अग्नि की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह परमेश्वर से निकलने वाली किरणों अर्थात् *ब्रह्मज्योति* द्वारा पहले से ही प्रकाशित है। हम अन्य ग्रहों तक पहुँचने का कठिन प्रयास कर रहे हैं, लेकिन परमेश्वर के धाम को जानना कठिन नहीं है। यह धाम गोलोक कहलाता है। *ब्रह्मसंहिता* (५.३७) में इसका अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*। भगवान् अपने धाम गोलोक में नित्य वास करते हैं, फिर भी इस संसार से उन तक पहुँचा जा सकता है और ऐसा करने के लिए वे अपने सच्चिदानन्द विग्रह रूप को व्यक्त करते हैं, जो उनका असली रूप है। जब वे इस रूप को प्रकट करते हैं, तब हमें इसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उनका रूप कैसा होगा। ऐसे काल्पनिक चिन्तन को निरुत्साहित करने के लिए ही वे अवतरित होते हैं, और अपने मूल श्यामसुन्दर स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। दुर्भाग्यवश, अल्पज्ञ लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं क्योंकि वे हमारे जैसे बन कर आते हैं और हमारे साथ मनुष्य रूप में खेलते-कूदते हैं। लेकिन इस कारण हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वे हमारी तरह एक हैं। वे अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण ही अपने वास्तविक रूप में हमारे समक्ष प्रकट होते हैं और अपनी लीलाओं का प्रदर्शन करते हैं, जो उनके धाम में होने वाली

लीलाओं की अनुकृतियाँ (प्रतिरूप) होती हैं।

आध्यात्मिक आकाश की तेजोमय किरणों में असंख्य लोक तैर रहे हैं। यह *ब्रह्मज्योति* परम धाम कृष्णलोक से उद्भूत होती है और *आनन्दमय* तथा *चिन्मय* लोक, जो भौतिक नहीं हैं, इसी ज्योति की किरणों में तैरते रहते हैं। भगवान् कहते हैं—*न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः*। यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। जो इस आध्यात्मिक आकाश तक पहुँच सकता है, उसे इस भौतिक आकाश में वापस लौटने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भौतिक आकाश में यदि हम सर्वोच्च लोक (ब्रह्मलोक) को भी प्राप्त कर लें, चन्द्रलोक का तो कहना ही क्या, तो वहाँ भी जीवन की वही परिस्थितियाँ—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि—होंगी। भौतिक ब्रह्माण्ड का कोई भी लोक संसार के इन चार नियमों से मुक्त नहीं है।

सारे जीव एक ग्रह से दूसरे ग्रह में विचरण कर रहे हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि हम मात्र यान्त्रिक व्यवस्था करके जिस ग्रह में जाना चाहें वहाँ चले जाएँ। यदि हम किसी अन्य ग्रह में जाना चाहते हैं, तो वहाँ जाने की कोई विधि होती है। इसका भी उल्लेख हुआ है—*यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः*। यदि हम एक ग्रह से दूसरे ग्रह में विचरण करना चाहते हैं, तो उसके लिए किसी यांत्रिक व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। *गीता* उपदेश देती है—*यान्ति देवव्रता देवान्*। चन्द्र, सूर्य तथा उच्चतर ग्रह स्वर्गलोक कहलाते हैं। लोकों की तीन विभिन्न कक्षाएँ हैं—उच्चतर, मध्य तथा निम्न लोक। पृथ्वी मध्य लोक में आती है। *भगवद्गीता* हमें बताती है कि किस प्रकार अति सरल

सूत्र—*यान्ति देवव्रता देवान्*—द्वारा उच्चतर लोकों यानी देवलोकों तक जाया जा सकता है। मनुष्य को केवल उस विशेष लोक के विशेष देवता की पूजा करने की आवश्यकता है और उस तरह चन्द्र, सूर्य या अन्य किसी भी उच्चतर लोक को जाया जा सकता है।

फिर भी *भगवद्गीता* हमें इस भौतिक ब्रह्माण्ड के किसी लोक में जाने की सलाह नहीं देती, क्योंकि चाहे हम किसी यान्त्रिक युक्ति से चालीस हजार वर्षों तक यात्रा करके (और कौन इतने समय तक जीवित रहेगा?) सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक क्यों न चले जायँ, किन्तु फिर भी वहाँ हमें जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि जैसी भौतिक असुविधाओं से मुक्ति नहीं मिल सकेगी। लेकिन जो परम लोक, कृष्णलोक, या आध्यात्मिक आकाश के किसी भी अन्य लोक में पहुँचना चाहता है, उसे वहाँ ये असुविधाएँ नहीं मिलेगी। आध्यात्मिक आकाश में जितने भी लोक हैं, उनमें गोलोक वृन्दावन नामक लोक सर्वश्रेष्ठ है, जो आदिपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण का मूल धाम है। यह सारी जानकारी *भगवद्गीता* में दी हुई है, और इस उपदेश के द्वारा हमें बताया गया है कि हम किस प्रकार इस भौतिक जगत् को छोड़ सकते हैं और आध्यात्मिक आकाश में वास्तविक आनन्दमय जीवन की शुरुआत कर सकते हैं।

भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में भौतिक जगत् का वास्तविक चित्रण हुआ है। वहाँ कहा गया है :

ऊर्ध्वमूलमाधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

यहाँ पर भौतिक जगत् का वर्णन उस वृक्ष के रूप में हुआ है जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी (ऊपर की ओर) हैं और शाखाएँ अधोमुखी (नीचे की ओर) हैं। हमें ऐसे वृक्ष का अनुभव है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी हों : यदि कोई नदी या जलाशय के किनारे खड़ा होकर जल में वृक्षों का प्रतिबिम्ब देखे तो उसे सारे वृक्ष उल्टे दिखेंगे। शाखाएँ नीचे की ओर और जड़ें ऊपर की ओर दिखेंगी। इसी प्रकार यह भौतिक जगत् भी आध्यात्मिक जगत् का प्रतिबिम्ब है। यह भौतिक जगत् वास्तविकता का प्रतिबिम्ब (छाया) मात्र है। छाया में कोई वास्तविकता या सार नहीं होता, लेकिन छाया से हम यह समझ सकते हैं कि मूल वस्तु तथा वास्तविकता होती है। यद्यपि मरुस्थल में जल नहीं होता, लेकिन मृग-मरीचिका बताती है कि जल जैसी वस्तु होती है। भौतिक जगत् में न तो जल है, न सुख है, लेकिन वास्तविक सुख-रूपी असली जल आध्यात्मिक जगत् में है।

भगवद्गीता (१५.५) में भगवान् ने सुझाव दिया है कि हम निम्नलिखित प्रकार से आध्यात्मिक जगत् की प्राप्ति करें :

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्यमूढाः पदम् अव्ययं तत्॥

उस *पदम् अव्ययं* अर्थात् सनातन राज्य (धाम) को वही प्राप्त कर सकता है जो *निर्मान-मोहा* है। इसका अर्थ क्या हुआ? हम उपाधियों के पीछे पड़े रहते हैं। कोई 'सर' की पदवी चाहता है, कोई 'प्रभु' बनना चाहता है, तो कोई राष्ट्रपति या धनवान् या

राजा या कुछ और बनना चाहता है। परन्तु जब तक हम इन उपाधियों से चिपके रहते हैं, तब तक हम शरीर के प्रति आसक्त बने रहते हैं, क्योंकि ये उपाधियाँ शरीर से सम्बन्धित होती हैं। लेकिन हम ये शरीर नहीं हैं, और इसकी अनुभूति होना ही आध्यात्मिक अनुभूति की प्रथम अवस्था है। हम प्रकृति के तीन गुणों से जुड़े हुए हैं, किन्तु भगवान् की भक्तिमय सेवा द्वारा हमें इनसे विरक्त होना होगा। यदि हम भगवान् की भक्तिमय सेवा के प्रति आसक्त नहीं होते, तो भौतिक प्रकृति के गुणों से छूट पाना दुष्कर है। उपाधियाँ तथा आसक्तियाँ हमारी कामवासना, इच्छा तथा प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की चाह के कारण हैं। जब तक हम भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति को नहीं त्यागते, तब तक भगवान् के धाम, *सनातन-धाम* को वापस जाने की कोई सम्भावना नहीं है। वह शाश्वत अविनाशी धाम उसी को प्राप्त होता है, जो झूठे भौतिक भोगों के आकर्षणों द्वारा मोहग्रस्त नहीं होता, जो भगवान् की सेवा में लगा रहता है। ऐसा व्यक्ति सहज ही उस परम धाम को प्राप्त हो सकता है।

गीता (८.२१) में अन्यत्र कहा गया है :

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

अव्यक्त का अर्थ है अप्रकट। हमारे समक्ष सारा भौतिक जगत् तक प्रकट नहीं है। हमारी इन्द्रियाँ इतनी अपूर्ण हैं कि हम इस भौतिक ब्रह्माण्ड में सारे नक्षत्रों को भी नहीं देख पाते। वैदिक साहित्य से हमें इन सभी लोकों के विषय में प्रचुर जानकारी प्राप्त होती है। उस पर विश्वास करना या न करना हमारे ऊपर निर्भर

करता है। वैदिक ग्रंथों में, विशेषतया *श्रीमद्भागवतम्* में, सभी महत्त्वपूर्ण लोकों का वर्णन हुआ है और इस भौतिक आकाश से परे जो आध्यात्मिक जगत् है वह *अव्यक्त* या अप्रकट कहलाता है। व्यक्ति को उसी सर्वोपरि भगवद्धाम की ही कामना तथा लालसा करनी चाहिए, क्योंकि जब उसको उस धाम की प्राप्ति हो जाती है, तब उसको फिर इस भौतिक जगत् में लौटना नहीं पड़ता।

इसके बाद यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि उस भगवद्धाम तक कैसे पहुँचा जा सकता है? इसकी सूचना *भगवद्गीता* के आठवें अध्याय (८.५) में इस तरह दी गई है :

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

"अन्त काल में जो कोई मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त होता है, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।" जो व्यक्ति मृत्यु के समय कृष्ण का चिन्तन करता है, वह कृष्ण के पास जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्ण के स्वरूप का स्मरण करे; यदि इस रूप का चिन्तन करते हुए वह देह का त्याग करता है, तो वह निश्चित ही भगवद्धाम को प्राप्त होता है। *मद्भावम्* शब्द परम पुरुष के परम स्वभाव का सूचक है। परम पुरुष *सच्चिदानन्दविग्रह* हैं—अर्थात् उनका स्वरूप शाश्वत, ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण है। हमारा यह वर्तमान शरीर *सच्चिदानन्द* नहीं है। वह *सत्* नहीं अपितु *असत्* है। वह शाश्वत नहीं अपितु नाशवान् है, वह *चित्* नहीं है अर्थात् ज्ञान से पूर्ण नहीं, अपितु अज्ञान से पूर्ण है। हमें भगवद्धाम का

कोई ज्ञान नहीं है, यहाँ तक कि हमें इस भौतिक जगत् का पूर्ण ज्ञान नहीं है, जहाँ ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जो हमें ज्ञात हैं। यह शरीर भी *निरानन्द* है, आनन्द से ओतप्रोत न होकर दुःख से पूर्ण है। इस भौतिक संसार में जितने भी दुःखों का हमें अनुभव होता है, वे शरीर से उत्पन्न होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण का चिन्तन करते हुए इस शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त ही सच्चिदानन्द शरीर प्राप्त करता है।

भौतिक जगत् में इस शरीर को त्यागने और इस भौतिक जगत् में दूसरा शरीर धारण करने की प्रक्रिया भी सुव्यवस्थित है। मनुष्य तभी मरता है जब यह निश्चित हो जाता है कि अगले जीवन में उसे किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा। इसका निर्णय उच्च अधिकारी करते हैं, स्वयं जीव नहीं करता। इस जीवन में अपने कर्मों के अनुसार हम उन्नति करते हैं या अवनति करते हैं। यह जीवन अगले जीवन की तैयारी के लिए है। अतएव यदि हम इस जीवन में भगवद्धाम तक उन्नति करने की तैयारी कर लेते हैं, तो निश्चित ही इस भौतिक शरीर को त्यागने के बाद हम भगवान् के ही सदृश आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करेंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अध्यात्मवादियों के कई प्रकार हैं—ब्रह्मवादी, परमात्मावादी तथा भक्त, और जैसा कि उल्लेख हो चुका है ब्रह्मज्योति (आध्यात्मिक आकाश) में असंख्य आध्यात्मिक लोक हैं। इन लोकों की संख्या इस भौतिक जगत् के समस्त लोकों की संख्या से कहीं अधिक है। यह भौतिक जगत् संपूर्ण सृष्टि का केवल चतुर्थांश अनुमानित किया गया है (*एकांशेन स्थितो जगत्*)। इस भौतिक खण्ड में लाखों

करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं, जिनमें अरबों ग्रह, सूर्य, तारे तथा चन्द्रमा हैं। किन्तु यह सारी भौतिक सृष्टि सम्पूर्ण सृष्टि का एक खण्ड मात्र है। अधिकांश सृष्टि तो आध्यात्मिक आकाश में है। जो व्यक्ति परब्रह्म के धाम में विलीन होना चाहता है, उसे तुरन्त ही परमेश्वर की ब्रह्मज्योति स्थानान्तरित करं भेज दिया जाता है, और इस तरह वह आध्यात्मिक आकाश को प्राप्त कर लेता है। जो भक्त भगवान् के सान्निध्य का आनन्द लेना चाहता है, वह वैकुण्ठ ग्रहों में प्रवेश करता है, जिनकी संख्या अनगिनत है और जहाँ पर परमेश्वर अपने विभिन्न पूर्ण अंशों, यथा चतुर्भुज नारायण के रूप में प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा गोविन्द जैसे नामों में, भक्तों के साथ-साथ रहते हैं। अतएव जीवन के अन्त में अध्यात्मवादी या तो ब्रह्मज्योति का, या परमात्मा का या भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। प्रत्येक दशा में वे आध्यात्मिक आकाश में प्रविष्ट होते हैं, लेकिन केवल भक्त या परमेश्वर से व्यक्तिगत रूप से सम्बन्धित रहने वाला ही वैकुण्ठ के ग्रहों में या गोलोक वृन्दावन ग्रह में प्रवेश करता है। भगवान् यह भी कहते हैं कि "इसमें कोई सन्देह नहीं है।" इस पर दृढ विश्वास करना चाहिए। हमें चाहिए कि जो हमारी कल्पना से मेल नहीं खाता, उसे ठुकरायें नहीं। हमारी मनोवृत्ति अर्जुन की सी होनी चाहिए : "आपने जो कुछ कहा है उस पर मैं विश्वास करता हूँ।" अतएव जब भगवान् यह कहते हैं कि मृत्यु के समय जो भी मनुष्य ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् के रूप में उनका चिन्तन करता है वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक आकाश में प्रवेश करता है; इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस पर अविश्वास करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भगवद्गीता (८.६) में उस सामान्य सिद्धान्त की भी व्याख्या की गई है, जो मृत्यु के समय परम भगवान् का चिन्तन मात्र करने से आध्यात्मिक धाम में प्रवेश करना संभव बनाता है :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"अपने वर्तमान शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता है, वह अगले जन्म में उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।" अब सर्वप्रथम हमें यह समझना चाहिए कि भौतिक प्रकृति परमेश्वर की एक शक्ति का प्रदर्शन है। विष्णु पुराण (६.७.६१) में भगवान् की समग्र शक्तियों का वर्णन हुआ है :

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते।

परमेश्वर की शक्तियाँ विविध तथा असंख्य हैं और वे हमारी कल्पना के परे हैं, लेकिन बड़े-बड़े विद्वान् मुनियों या मुक्तात्माओं ने इन शक्तियों का अध्ययन करके इन्हें तीन भागों में बाँटा है। सारी शक्तियाँ *विष्णु-शक्ति* हैं, अर्थात् वे भगवान् विष्णु की विभिन्न शक्तियाँ हैं। पहली शक्ति *परा* या दिव्य है। जीव भी परा शक्ति हैं जैसा कि पहले कहा जा चुका है। अन्य शक्तियाँ या भौतिक शक्तियाँ तामसी हैं। मृत्यु के समय हम या तो इस संसार की अपरा शक्ति में रह सकते हैं या फिर आध्यात्मिक जगत् की शक्ति में चले जा सकते हैं। अतएव भगवद्गीता (८.६) में कहा गया है :

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"अपने वर्तमान शरीर को त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, अगले जन्म में वह उसी भाव को निश्चित रूप से प्राप्त करता है।"

जीवन में हम या तो भौतिक शक्ति या फिर आध्यात्मिक शक्ति के विषय में सोचने के आदी हैं। हम अपने विचारों को भौतिक शक्ति से आध्यात्मिक शक्ति में किस प्रकार ले जा सकते हैं? ऐसे बहुत से साहित्य हैं—यथा समाचारपत्र, पत्रिकाएँ, उपन्यास आदि—जो हमारे विचारों को भौतिक शक्ति से भर देते हैं। हमें अपने चिन्तन को जो सम्पत्ति ऐसे साहित्य में लगा है, वैदिक साहित्य की ओर मोड़ना है। अतएव महान् ऋषियों ने अनेक वैदिक ग्रंथ लिखे हैं, यथा पुराण। ये पुराण काल्पनिक नहीं हैं; ये ऐतिहासिक लेख हैं। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २०.१२२) में निम्नलिखित कथन है :

मायामुग्ध जीवेर नाहि स्वतः कृष्णज्ञान।
जीवेरे कृपाय कैला कृष्ण वेद-पुराण॥

भुलक्कड़ जीवों या बद्ध-आत्माओं ने परमेश्वर के साथ के अपने सम्बन्ध को भुला दिया है और वे सब भौतिक कार्यों के विषय में सोचने में मग्न रहते हैं। उनकी चिन्तन शक्ति को आध्यात्मिक आकाश की ओर मोड़ने के लिए ही कृष्णद्वैपायन व्यास ने प्रचुर वैदिक साहित्य प्रदान किया है। सर्वप्रथम उन्होंने वेदों के चार विभाग किये, फिर उन्होंने उनकी व्याख्या पुराणों में की, और अल्पज्ञों के लिए उन्होंने महाभारत की रचना की। महाभारत में ही भगवद्गीता दी हुई है। तत्पश्चात् समस्त वैदिक साहित्य का सार वेदान्त-सूत्र में दिया गया है और भावी पथ-

प्रदर्शन के लिए उन्होंने वेदान्त-सूत्र का सहज भाष्य भी दिया जो *श्रीमद्भागवतम्* कहलाता है। हमें अपना चित्त सदा इन वैदिक ग्रंथों के अध्ययन में लगाना चाहिए। जिस प्रकार भौतिकतावादी लोग अपना ध्यान नाना प्रकार के समाचार पत्रों, पत्रिकाओं तथा अन्य संसारी साहित्य को पढ़ने में लगाते हैं, उसी तरह हमें भी व्यासदेव द्वारा प्रदत्त साहित्य के अध्ययन में अपना ध्यान परिवर्तित कर देना चाहिए। इस प्रकार हम मृत्यु के समय परमेश्वर का स्मरण कर सकेंगे। भगवान् द्वारा सुझाया गया यही एकमात्र उपाय है और वे इसके फल की गारंटी देते हैं : "इसमें कोई सन्देह नहीं है।"

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर् मामेवैष्यस्यसंशयः॥

इसलिए, हे अर्जुन! तुम मेरा सदैव कृष्ण के रूप में चिन्तन करो, और साथ ही अपना निर्धारित युद्ध-कर्म करते रहो। अपने कर्मों को मुझे अर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझ पर स्थिर करके तुम मुझे निश्चित रूप से प्राप्त करोगे। (*भगवद्गीता* ८.७)

वे अर्जुन से अपने कर्म (पेशा) को त्याग कर केवल अपना (कृष्ण का) स्मरण करने के लिए नहीं कहते। नहीं, भगवान् कभी भी कोई अव्यावहारिक बात का सुझाव नहीं देते। इस भौतिक जगत् में शरीर के पालन हेतु मनुष्य को कर्म करना होता है। कर्म के अनुसार मानव समाज चार वर्णों में विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। ब्राह्मण अथवा बुद्धिमान् वर्ग एक प्रकार से कार्य करता है, क्षत्रिय या प्रशासक

वर्ग दूसरी तरह से कार्य करता है। इसी प्रकार वैश्य वर्ग तथा श्रमिक वर्ग भी अपने अपने कर्तव्यों का पालन करते हैं। मानव समाज में चाहे कोई श्रमिक हो, वणिक हो, प्रशासक हो या किसान हो, या फिर चाहे वह सर्वोच्च वर्ग का तथा साहित्यिक हो, वैज्ञानिक हो या धर्मशास्त्रज्ञ हो, उसे अपने जीवनयापन के लिए कार्य करना होता है। अतएव भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि उसे अपनी वृत्ति-परक कार्य का त्याग नहीं करना है, अपितु वृत्ति-परक कार्य में लगे रहकर उसे कृष्ण का स्मरण करना चाहिए (*माम् अनुस्मर*)। यदि वह जीवन-संघर्ष करते हुए कृष्ण का स्मरण करने का अभ्यास नहीं करता, तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण नहीं कर सकेगा। भगवान् चैतन्य भी यही परामर्श देते हैं। वे कहते हैं, *कीर्तनीयः सदा हरिः*—मनुष्य को चाहिए कि भगवान् के नामों का सदैव उच्चारण करने का अभ्यास करे। भगवान् के नाम तथा भगवान् अभिन्न हैं। इसलिए अर्जुन को भगवान् की यह शिक्षा कि "मेरा स्मरण करो" तथा भगवान् चैतन्य का यह आदेश कि "भगवान् कृष्ण के नामों का निरन्तर कीर्तन करो" एक ही हैं। इनमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि कृष्ण तथा कृष्ण के नाम में कोई अन्तर नहीं है। चरम दशा में नाम तथा नामी में कोई अन्तर नहीं होता। अतएव हमें अपने जीवन के कार्यकलापों को इस प्रकार ढालना होगा कि हम सदैव भगवान् के नामों का जप करते हुए चौबीसों घंटे उनका स्मरण कर सकें।

यह किस प्रकार सम्भव है? आचार्यों ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है। यदि कोई विवाहिता स्त्री परपुरुष में आसक्त

होती है, या कोई पुरुष अपनी पत्नी को छोड़कर किसी पराई स्त्री में आसक्त होता है, तो यह आसक्ति अत्यन्त प्रबल समझी जानी चाहिए। ऐसी आसक्ति वाला व्यक्ति हमेशा अपने प्रेमी अथवा अपनी प्रेमिका के विषय में सोचता रहता है। जो स्त्री अपने प्रेमी के विषय में सोचती रहती है, वह अपने घरेलू कार्य करते समय भी उसी से मिलने के विषय में सोचती रहती है। वास्तव में वह अपने गृहकार्य को पहले से अधिक सावधानी से करती है जिससे उसका पति उसकी आसक्ति के विषय में सन्देह न कर सके। इसी प्रकार हमें परम प्रेमी, श्रीकृष्ण, को सदैव स्मरण करना चाहिए और साथ ही अपने भौतिक या सांसारिक कर्त्तव्यों को सुचारु रूप से करते रहना चाहिए। इसके लिए प्रेम की प्रगाढ़ भावना की आवश्यकता है। यदि हममें परमेश्वर के लिए प्रेम की प्रगाढ़ भावना हो, तो हम अपना कर्तव्य करते हुए भी उनका स्मरण कर सकते हैं। लेकिन हमें उस प्रेमभाव का विकास करना होगा। उदाहरणार्थ, अर्जुन सदैव कृष्ण का चिन्तन करता था, वह कृष्ण का नित्य संगी था और साथ ही योद्धा भी। कृष्ण ने उसे युद्ध करना छोड़कर जंगल जाकर ध्यान करने की कभी सलाह नहीं दी। जब भगवान् कृष्ण अर्जुन को योग पद्धति बताते हैं, तो अर्जुन कहता है कि इस पद्धति का अभ्यास कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम्॥

"अर्जुन ने कहा : हे मधुसूदन! आपने जिस योग पद्धति का

संक्षेप में वर्णन किया है, वह मेरे लिए अव्यावहारिक तथा असह्य प्रतीत होती है, क्योंकि मन अस्थिर तथा चंचल है। (*भगवद्गीता* ६.३३)

लेकिन भगवान् कहते हैं :

योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"सब योगियों में जो श्रद्धावान् योगी भक्तियोग के द्वारा मुझ में निवारा करता है, अपने अन्तर में मेरे बारे में सोचता है, और मेरी दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा करता है, वह योग में मुझसे परम घनिष्ठतापूर्वक युक्त होता है और सबसे श्रेष्ठ है। यही मेरा मत है।" (*भगवद्गीता* ६.४७) अतएव जो सदैव परमेश्वर का चिन्तन करता है, वह एक साथ सबसे बड़ा योगी, सर्वोच्च ज्ञानी तथा महानतम भक्त है। अर्जुन से भगवान् आगे कहते हैं कि क्षत्रिय होने के कारण वह युद्ध करना त्याग नहीं सकता, किन्तु यदि वह कृष्ण का स्मरण करते हुए युद्ध करता है, तो वह मृत्यु के समय कृष्ण का स्मरण कर सकेगा। परन्तु इसके लिए मनुष्य को भगवान् की दिव्य प्रेमभक्तिमय सेवा में पूर्णतया समर्पित होना होगा।

वास्तव में, हम अपने शरीर से नहीं, अपितु अपने मन तथा बुद्धि से कर्म करते हैं। अतएव यदि मन तथा बुद्धि सदैव परमेश्वर के चिन्तन में मग्न रहें, तो स्वभावतः इन्द्रियाँ भी उनकी सेवा में लगी रहती हैं। इन्द्रियों के कार्य, कम से कम बाहर से तो, वे ही रहते हैं, लेकिन चेतना बदल जाती है। *भगवद्गीता* हमें सिखाती है कि मन तथा बुद्धि को भगवान् के चिंतन में किस प्रकार लीन

रखा जाये। ऐसी तल्लीनता से मनुष्य भगवद्धाम को जा सकेगी। यदि मन कृष्ण की सेवा में लग जाता है, तो इन्द्रियाँ स्वतः उनकी सेवा में लग जाती हैं। यह एक कला है, और यही *भगवद्गीता* का रहस्य भी है कि श्रीकृष्ण के चिंतन में पूरी तरह मग्न रहा जाये।

आधुनिक मनुष्य ने चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए कठोर संघर्ष किया है, लेकिन उसने अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए कठिन प्रयास नहीं किया है। यदि किसी के जीवन के पचास वर्ष और बाकी हैं, तो उसे चाहिए कि वह उस थोड़े से समय को भगवान् का स्मरण करने के अभ्यास के अनुशीलन में लगाए। यह अभ्यास भक्तियोग है (*श्रीमद्भागवतम्* ७.५.२३) :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम्॥

ये नौ विधियाँ जिनमें से श्रवण अर्थात् भगवद्गीता का किसी स्वरूपसिद्ध व्यक्ति से श्रवण सबसे सुगम है, उस व्यक्ति को भगवान् के चिन्तन की ओर मोड़ देगा। इससे परमेश्वर का स्मरण होगा और शरीर छोड़ने पर मनुष्य को आध्यात्मिक शरीर प्राप्त करने में समक्ष बना जाएँगी जो परमेश्वर की संगति के लिए उपयुक्त है।

भगवान् आगे भी कहते हैं :

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

हे अर्जुन! जो व्यक्ति पथ से विचलित हुए बिना अपने मन को निरन्तर मेरा स्मरण करने में व्यस्त रखता है और पूर्ण

पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह मुझको अवश्य प्राप्त करेगा। (*भगवद्गीता* ८.८)

यह कोई कठिन प्रक्रिया नहीं है, लेकिन इसे किसी अनुभवी व्यक्ति से सीखना चाहिए। *तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि ऐसे व्यक्ति के पास जाये जो पहले से अभ्यास कर रहा हो। मन सदैव इधर-उधर भटकता रहता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि मन को भगवान् श्रीकृष्ण के स्वरूप पर या उनके नामोच्चारण की ध्वनि पर केन्द्रित करने का अभ्यास करे। मन स्वभाव से चंचल है, इधर-उधर जाता रहता है, लेकिन वह कृष्ण की ध्वनि पर स्थिर हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य को *परमं पुरुषम्* अर्थात् दिव्यलोक में भगवान् का चिन्तन करना चाहिए और उनको प्राप्त करना चाहिए। चरम अनुभूति या चरम उपलब्धि के साधन *भगवद्गीता* में बताये गये हैं, और इस ज्ञान के द्वार सब के लिए खुले हैं। किसी के लिए रोक-टोक नहीं है। सभी श्रेणी के लोग भगवान् कृष्ण का चिन्तन करके उनके पास पहुँच सकते हैं, क्योंकि उनका श्रवण तथा चिन्तन हर किसी के लिए सम्भव है।

भगवान् आगे भी कहते हैं (*भगवद्गीता* ९.३२-३३) :

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

इस तरह भगवान् कहते हैं कि वैश्य, पतित स्त्री या श्रमिक अथवा अधमयोनि को प्राप्त मनुष्य भी परम को पा सकता है।

उसे अत्यधिक विकसित बुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। भाव यह है कि जो कोई व्यक्ति भक्ति-योग के सिद्धान्त को स्वीकार करता है और परमेश्वर को जीवन के आश्रय तत्त्व, सर्वोच्च लक्ष्य या परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करता है, वह आध्यात्मिक आकाश में भगवान् तक पहुँच सकता है। यदि कोई *भगवद्गीता* में बताये गये सिद्धान्तों को ग्रहण करता है, तो वह अपना जीवन पूर्ण बना सकता है और जीवन की सारी समस्याओं का स्थायी हल पा सकता है। यही पूरी *भगवद्गीता* का सार है।

सारांश यह है कि *भगवद्गीता* दिव्य साहित्य है जिसको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। *गीता शास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्*—यदि कोई *भगवद्गीता* के उपदेशों का उचित रूप से पालन करे, तो वह जीवन के सभी दुःखों तथा चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है। *भय शोकादिवर्जितः*। वह इस जीवन में सारे भय से मुक्त हो जाएगा और उसका अगला जीवन आध्यात्मिक होगा। (गीतामाहात्म्य १) एक अन्य लाभ भी होता है :

गीताध्यायनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥

"यदि कोई भगवद्गीता को अत्यन्त निष्ठा तथा गम्भीरता के साथ पढ़ता है तो भगवान् की कृपा से उसके पूर्व दुष्कर्मों के फलों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। (गीता माहात्म्य २) भगवान् *भगवद्गीता* (१८.६६) के अन्तिम अंश में जोर देकर कहते हैं :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

"सब धर्मों को त्याग कर एकमात्र मेरी ही शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों के फलों से मुक्त कर दूँगा। डरो मत।" इस प्रकार भगवान् अपनी शरण में आये हुए भक्त का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके समस्त पापों के फलों को क्षमा कर देते हैं।

मलिनेमोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीतामृतस्नानं संसारमलनाशनम्॥

मनुष्य जल में स्नान करके नित्य अपने को स्वच्छ कर सकता है, लेकिन यदि कोई *भगवद्गीता*-रूपी पवित्र गंगा-जल में एक बार भी स्नान कर ले, तो वह भौतिक जीवन की मलिनता से सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है। (गीता माहात्म्य ३)

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता॥

चूँकि *भगवद्गीता* पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के मुख से निकली है, अतएव मनुष्य को किसी अन्य वैदिक साहित्य को पढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे केवल *भगवद्गीता* का ही ध्यानपूर्वक तथा नित्य प्रति से श्रवण तथा पठन करना चाहिए। वर्तमान युग में लोग भौतिक कार्यों में इतने व्यस्त हैं कि उनके लिए समस्त वैदिक साहित्य का अध्ययन कर पाना सम्भव नहीं है। परन्तु इसकी आवश्यकता भी नहीं है। केवल एक पुस्तक, *भगवद्गीता* ही पर्याप्त है क्योंकि वह समस्त वैदिक साहित्य का सार है और इसका प्रवचन स्वयं भगवान् ने किया है। (गीता माहात्म्य ४)

जैसा कि कहा गया है :

भारतामृतसर्वस्वं विष्णुवक्त्राद् विनिःसृतम्।
गीता-गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

"जो गंगाजल पीता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है, तो उसके लिए क्या कहा जाये, जो *भगवद्गीता* का अमृत पान करता हो? *भगवद्गीता* महाभारत का आवश्यक अमृत है और इसे भगवान् कृष्ण (मूल विष्णु) ने स्वयं सुनाया है।" (गीता माहात्म्य ५) *भगवद्गीता* पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के मुख से निकली है और गंगा भगवान् के चरणकमलों से निकली कही जाती है। निस्सन्देह, भगवान् के मुख तथा चरणों में कोई अन्तर नहीं है लेकिन निष्पक्ष अध्ययन से हम समझ सकते हैं कि *भगवद्गीता* गंगाजल से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

यह गीतोपनिषद्, *भगवद्गीता*, जो समस्त उपनिषदों का सार है, गाय के तुल्य है, और ग्वालबाल के रूप में विख्यात भगवान् कृष्ण इस गाय को दुह रहे हैं। अर्जुन बछड़े के समान है, और सारे विद्वान् तथा शुद्ध भक्त *भगवद्गीता* के अमृतमय दूध का पान करने वाले हैं। (गीता माहात्म्य ६)

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्।
एको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि।
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

आज के युग में लोग एक शास्त्र, एक ईश्वर, एक धर्म तथा एक कर्म के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। अतएव *एकं शास्त्रं*

देवकीपुत्रगीतम्—केवल एक शास्त्र *भगवद्गीता* हो, जो सारे विश्व के लिए हो। *एको देवो देवकीपुत्र एव*—सारे विश्व के लिए एक ईश्वर हो—श्रीकृष्ण। *एको मन्त्रस्तस्य नामानि*—और एक मन्त्र, एक प्रार्थना हो—उनके नाम का कीर्तन : हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे। *कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा*—केवल एक ही कार्य हो—पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर की सेवा। (गीता माहात्म्य ७)

लेखक-परिचय

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई. में भारत के कलकत्ता नगर में हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता में उनकी प्रथम भेंट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान्-भक्त, आचार्य एवं चौसठ गौड़ीय मठों के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होंने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई.) प्रयाग (इलाहाबाद) में उनके विधिवत् दीक्षा- प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेंट, १९२२ ई. में ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अंग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षों में श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौड़ीय मठ के कार्य में सहयोग दिया तथा १९४४ ई. में बिना किसी की सहायता के एक अंग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टंकण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वयं करते